International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 15-02-2022, Accepted: 02-03-2022, Published: 17-03-2022
Volume 8, Issue 2, 2022, Page No. 23-25

कृषक संस्कृति समाज और विमर्श

शिव प्रकाश त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी), बुंदेलखंड महाविद्यालय, झाँसी, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
मनुष्य सभ्यता के विकास क्रम में सबसे पहले खेती करना प्रारंभ करता है । यही कृषि कर्म आगे चलकर एक नई संस्कृत को जन्म देती है, जिसे हम कृषक संस्कृति कहते हैं। इसने हमारे जीवन को एक नई दिशा दी। हमने जीवन को सुगम, सार्थक और सफल बनाने के क्रम में नित नए प्रयोग किए। जिसने खेती–किसानी को और ज्यादा समुन्नत किया । किंतु कालांतर में ऐसी व्यवस्था ने जन्म लिया जिनकी वजह से यह वर्ग जो आम जनमानस के लिए अन्नदाता था, निरंतर उपेक्षित होता चला गया । औद्योगिकरण के दौर में जब हमें तकनीकी के माध्यम से कृषि क्षेत्र में अत्यधिक विकास और समुन्नत तकनीकी के प्रयोग से उच्चतम उत्पादन करना चाहिए था, उस दौर में हमने इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया और इसे उपेक्षित ही छोड़ दिया। किसान जीवन के महत्व को साहित्य ने हमेशा केंद्रीय स्थान दिया। भक्तिकालीन कवि कविताओं में जब भी जन समस्याओं पर अपने विचार रखे तो उनमें केंद्रीय तत्व के रूप में खेती–किसानी अनिवार्य रूप से उपस्थित रहता था। आधुनिक भारत में हमारी व्यवस्था और व्यवस्थापक निरंतर इस क्षेत्र के प्रति उदासीन रहे। जिसका प्रतिफल यह हुआ कि खेती भगवान् भरोसे होती गयी और किसान आत्महत्या तक करने को मजबूर हो गया। साहित्य में भी इसको विमर्श के रूप में जनमानस के बीच नहीं रख पाया। जो भी प्रयास हुए वो जन चेतना को लाने के लिए नाकाफ़ी रहे। जिससे दिनों–दिन खेती–किसानी बदतर होती चली गई। आज यह दशा है कि नई पीढ़ी इस क्षेत्र में बिल्कुल भी नहीं आना चाहती जो एक कृषि प्रधान देश के लिए बिल्कुल भी सकारात्मक नहीं है इससे पहले की देश का एक बहुत बड़ा वर्ग जिसकी अपनी संस्कृति है, वह संकुचित होता चला जाए, हमें इस पर गहन चिंतन करना होगा। कृषि विमर्श को केंद्र में रखना होगा । आम जनमानस के बीच चर्चाएं करनी होंगी और बेहतरी के लिए व्यवस्थापकों पर दबाव बनाना होगा तभी संभव है कि हम इस वर्ग को बचा सके।

मूल शब्दः कृषि, किसान चेतना, कृषक संस्कृति, खेती, कृषि विमर्श, साहित्य में कृषि, जन चेतना मजूरी, स्वाभिमान अर्थव्यवस्था आदि।

प्रस्तावना
आदिम मनुष्य ने सभ्यता के विकास व विस्तार के क्रम में जो पहला प्रयास किया वह 'खेती करना' था। खेती करना मानव जाति का सबसे पुराना कार्य–व्यापार है। जंगलों, झाड़–झंकारों आदि को साफ कर उसे खेती के योग्य जमीन बनाने के क्रम में हमने नई 'कृषक संस्कृति' को जन्म दिया। यही कृषक संस्कृति कालांतर में जीवन की अनिवार्य संस्कृति बन गई और आज भी है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। जब किसी देश की अर्थव्यवस्था को कृषि प्रधान कहते हैं तो इसका अर्थ महज यह नहीं होता की उस देश की अर्थव्यवस्था कृषि पर निर्भर है बल्कि यह भी होता है कि वह देश और उसका प्रत्येक पहलू जिस सांस्कृतिक जुड़ाव से जुड़ता है, जिस भूगोल के माध्यम से वह अपने परिवेश में रीति रिवाज, अपनी परंपराओं को तय करता है वह संस्कृति 'कृषक संस्कृति' होती है। क्योकि सबके मूल में कृषि ही है। यही कारण है कि भारत में जो रीति रिवाज हैं, त्योहार हैं, मान्यताएं हैं सब के सब कृषि पर निर्भर है। परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उससे जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि जब उत्तर भारत में मकर संक्रांति का पर्व मनाया जाता है तो सुदूर दक्षिण में उसी दिन पोंगल का त्योहार भी मनाया जाता है। वही पूर्वोत्तर भारत में ठीक उसी दिन बिहू का पर्व मनाया जाता है यह सिर्फ संयोग नहीं कि यह सारे पर्व नई फसलों के आने पर खुशी और उल्लास के साथ मनाया जाता है। सिर्फ यही नहीं भारत के अन्य महत्वपूर्ण पर्व भी या तो नई फसल आने पर या तो नई फसल बोने पर ही मनाए जाते हैं। यह कृषि संस्कृति ही है। कृषि प्रधान देश होना उस देश की जीवन संस्कृत का होना होता है। किंतु यह बहुत ही विडंबना पूर्ण रहा है कि इस देश में किसान हमेशा से ही हाशिए पर रहा है। इस देश में हाड़–तोड़ मेहनत करने वाला, मई–जून की भरी दुपहरी में अपने खेतों में बीजों को जीवन देने वाला, उसे पोषने वाल, माघ–पूस की सर्द भरी रातों को भेदने वाला सशक्त किसान आज सरकारी तंत्र की उपेक्षा और राजनीतिक उदासीनता के कारण टूट रहा है। वह आत्महत्या करने को विवश हो रहा है। जिजीविषा की विकट भाव से भरा किसान आखिर कहां कमजोर पड़ रहा है कि उसे अपना जीवन निरर्थक लग रहा है? जो किसी भी मौसम की मार सह सकता है, आखिर वह कौन सी मार के आगे अपने को बेबस और लाचार पा रहा है? यह समझने की जरूरत है। यह हमेशा से स्पष्ट रहा कि किसान ने प्रत्येक विपत्तियों को झेला, तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना किया और हर तरह के सामंजस्य के भाव को लेकर चला है किंतु किसान ने कभी स्वाभिमान से समझौता नहीं किया। भारतीय किसान का कृषि कर्म स्वाभिमान से जुड़ा है। उसके लिए कृषि कार्य करना एक गर्व की बात है । वह स्वयं को समाज में अन्नदाता के भूमिका में रखता है। किसान धरतीपुत्र कहलाना पसंद करता है। और जब उसके इस स्वाभिमान में चोट लगती है जब उसके इस स्वाभिमान को तोड़ा जाता है तो किसान भी टूट जाता है। इस बात को मुंशी प्रेमचंद अपने उपन्यास कर्मभूमि में स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हैं उनका

पात्र काशी कहता है कि ष्मजूरी,मजूरी है किसानी–किसानी है। मजूरी लाख हो तो मजदूर ही कहलाएगा। सिर पर घास लिए चले जा रहे हैं। कोई इधर से पुकारता है –ओ घास वाले! कोई उधर से। किसी के मेड़ पर घास कर लो तो गालियां मिले। किसानी में मरजाद है"[1]

उक्त कथन में प्रेमचंद ने किसान की उस मूल भावभूमि को इंगित किया है जो किसान की आत्मा में बसी हुई है। जिससे किसान किसी भी परिस्थिति में समझौता नहीं कर सकता। इसी 'मरजाद' के नष्ट होने पर किसान आत्महत्या करने को मजबूर हो रहा है वरना इस देश का किसान कहीं से भी कमजोर नहीं है। मुंशी प्रेमचंद अपने उपन्यासों में किसानों की जिन समस्याओं पर और अपने जिन कथानकों को खड़ा करते हैं कमोबेश वही समस्या आज भी मौजूद है। अर्थात देश आजादी के पहले किसान जिन–जिन समस्याओं से जूझ रहा था देश आजादी के बाद भी वह समस्याएं ना सिर्फ बनी हुई हैं बल्कि और विकराल हो चुकी है। देश का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है की आज भी किसानों के पास अपनी जमा पूंजी के नाम पर कुछ भी नहीं है। हम देखते हैं कि देश आजादी के पहले भी किसान अपने गांव जवार के सेठ–साहूकारों और जमीदारों पर निर्भर था। उन से कर्ज लेने के लिए मजबूर था कमोबेश आज भी हालात कुछ वही है। सिर्फ बदलाव हुआ है तो यह कि अब जमीदारों की जगह बैंकों ने ले ली है। जब बैंकों के कर्जों को किसान चुकाने में असमर्थ होता है जब उसके घर में बची–खुची संपत्ति के कुर्क होने की नौबत आ जाती है तो उसकी वह श्मरजादश जिसके सहारे वह हर बाधा को पार करने का हौसला रखता था, टूटने लगती है। ऐसे वक्त में किसान भी टूटने लगता है। आजादी के 75 वर्ष बाद भी आज किसान पारंपरिक रूप से किसानी करने को मजबूर है। आज भी वह सिंचाई के लिए प्रकृति पर निर्भर है। बदलते हुए पर्यावरण की मार सबसे ज्यादा कोई झेल रहा है तो वह किसान ही है फिर चाहे बाढ़ की भयावहता हो या फिर सूखे की मार । किसान इन सबको सहता चला आ रहा है। ऐसे कठिन और संघर्ष के वक्त बड़ी उम्मीद के साथ वह अपनी नीति नियंताओं की तरफ देखता है। लोकतंत्र के पहरुओं की ओर निहारता है। जिन्हें हमने लोकतंत्र में जनप्रतिनिधि के रूप में संस्थाओं में भेजा ताकि ऐसे संकटकाल में, संघर्ष के दौर में मददगार योजनाएं बनाएं ताकि उस से निकला जा सके लेकिन यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि देश आजादी से आज तक हम ऐसी योजनाओं के अभाव से ग्रसित हैं हमारे हमारे जनप्रतिनिधि गैर जिम्मेदार तथा असंवेदनशील ही रहे। उनकी संवेदना खेती किसानी से कभी जुडी ही नही। कवि केशव तिवारी इस असंवेदनशीलता को अपनी एक कविता में निजी संपत्ति को मूल मानते हैं। वह लिखते हैं कि–

"यह एक खाली जेब किसान
जिस आशा और ललक से
देख रहा है।
आम के इन टिकोरों को
मैं उसे ऐसा क्यों नहीं देख पाता
मुझे मालूम है मैं उसे
कहीं से भी खरीद सकता हूं
मेरा सौंदर्य बोध
मेरी जेब में पड़ा पैसा
तय करता है।"[2]

जब हम इस असंवेदनशीलता के कारणों की तलाश करते है तो पते हैं कि ज्यादातर जनप्रतिनिधि खुद किसानी–खेती से विमुख ही रहे अतः उन संघर्षो को और उस मरजाद को उन्होंने कभी समझा ही नहीं। महाभारत में उद्योग पर्व में कहा गया है कि–

"न नः स समितिं गच्छेत यश्च नो निर्वयेत कृषिम।"[3]

अर्थात ऐसे लोगों को उन समितियों में ना भेजा जाए जो खेती से ना जुड़े हो। कहीं ना कहीं शायद हमने यह गलती की है।

खेती हमेशा से किसी भी राज्य की अर्थव्यवस्था की प्रथम व मूल अवस्था रही। तुलसी रामराज्य की परिकल्पना करते हुए जब राज्य की अर्थव्यवस्था की बात करते हैं तो उस क्रम में सबसे ऊपर कृषि को ही रखते हैं।तुलसी बाबा रामाज्ञा प्रश्न में लिखते हैं कि –

"खेती बनि विद्या बनिज, सेवा सिलिप सुकाज
तुलसी सुरतरु सरिस सब, सुफल राम के राज।।"[4]

एक आदर्श राज्य की तुलसी की परिकल्पना में सबसे पहले खेती किसानी आती है। यह सिर्फ इत्तेफाक नहीं है बल्कि ज्यादातर भक्तिकालीन कवियों ने इसे समाज के केंद्रीय भूमिका के रूप में देखा है। अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानी है। एक अन्य महत्वपूर्ण संत रहीम दास भी जब आदर्श राज्य बेगमपुरा शहर की परिकल्पना करते हैं तो जोर देकर कहते हैं कि–

"ऐसा चाहू राज में जहां मिले सबन को अन्न
छोट बढ़ो सब सम बसें रैदास रहे प्रशन्न।"[5]

रैदास के यहां भी खेती–बाड़ी सबसे पहले चिंता के रूप में सामने आती है। संत साहित्य का केंद्रीय तत्व कृषि संस्कृति ही रहा है। यही कारण है कि भक्तिकालीन कवियों के साहित्य में खेती के रूपक कई जगह देखने को मिलते हैं। जबकि ज्यादातर संत कवि किसान भी नहीं थे किंतु उनकी संवेदनाएं कृषि संस्कृति से गहरे स्तर तक जुड़ी हुई थी। कृषि को विमर्श के स्तर तक ले जाने की पुरजोर कोशिश हमें भक्तिकालीन कवियों में देखने को मिलती है। प्रकारान्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकालीन कवि अपने कृषक समाज से ना सिर्फ गहरे स्तर तक जुड़े हुए थे बल्कि कृषि संस्कृति के सामने मौजूद संकट को लोगों के सम्मुख रखते हुए उसे केंद्रीय विमर्श बनाने का भरसक प्रयास भी कर रहे थे। कवि जो स्वयं सन्यास ले कर भक्ति में लीन रहते थे उनके काव्य में कृषि कर्म की बारीकियां देखकर हैरानी होती है। यह हैरानी तब और बढ़ जाती है जब सूरदास जैसा जन्मांध कवि कृषि कर्म की बारीकियों को अपने कविता में रखता है। सूरसागर में खेती का बड़ा ही प्रभावशाली रूपके चित्रित करते हुए सूरदास लिखते हैं कि–

"प्रभु जी यौ किन्ही हम खेती
बंजर भूमि गौहर ज्योति और ज्योति की तेली
काम क्रोध दो बैल बली मिली रज तमस सब कीन्हो
अति कुबुद्धि मन हँकारे माया जुआ दीन्हो
इंद्रिय मूल किसानमहाटर्न अग्रज बीज बई
जन्म जन्म को विषय वासना उपजत लता नई
की जय कृपा दृष्टि जन की जाती लुनाई
सूरदास के प्रभु सौ करिए हुई ना कान कटाई"[6]

यहां सूरदास रूपक रचते हुए खेती के सभी कार्यों का क्रमिक रूप से वर्णन कर जाते हैं। एक सन्यस्त कवि (अंधत्व के साथ) जब अपने कविता में यह बारीकियां बताते हैं तो आश्चर्य होना लाजमी है। सूरदास के यहां खेती से जुड़े अनेक मुहावरे देखने को मिलते हैं 'धान को गांव प्यार से जानो' या 'कित पट पर मारत हो निरे भूंड के खेत', जैसे तमाम मुहावरे कवि की किसान चेतना व कृषक संस्कृति के प्रति संवेदनशीलता को दिखा देती है। भक्ति काल में रज्जब अली, पलटू दास, दरिया साहब, गुरु नानक देव के यहां किसान विमर्श से जुड़े तमाम प्रसंग देखने को मिलते हैं।

देश आजादी के संघर्ष की पहली चेतना किसानों के यहां ही देखने को मिलती है। अंग्रेजो के खिलाफ पहला विद्रोह किसानों ने ही किया था। सन्यासी विद्रोह को कौन नहीं जानता तो फिर क्या कारण रहे कि देशभक्त समाज के अन्नदाता देश आजादी के उपरांत दिनोंदिन हाशिए में चलते चले गए। साहित्य में जो किसान चेतना हमें भक्तिकाल में देखने को मिलती है आखिर वह आधुनिक कवियों में क्यों गौण हो जाती है। यह आज बड़ा सवाल है। आधुनिक कविता में कुछ ही कवियों में यत्र–तत्र कृषि समस्या पर कुछ प्रभावशाली लिखा है। इस पर चिंतन करने की आवश्यकता है। क्या कारण रहा कि प्रेमचंद्र ने जिसे पुरजोर ढंग से उठाया, किसान समस्या पर अपना लेखन जारी रखा बाद के कथाकार उससे किनारा करते आए। मैं यह नहीं कहता कि किसान समस्या पर साहित्य बिल्कुल नहीं आया फिर भी मैं यह जरूर कहूंगा कि जो भी आया वह गिनती भर का ही रहा। साथ ही यह भी जरूर कहूंगा कि किसान, साहित्य के केंद्र मैं नहीं रहा और यह संयोग मात्र नहीं है कि यह साहित्य के अलावा राजनीत में भी कभी एजेंडे में नहीं रहा। जबकि किसानों की समस्याएं आज भी कमोबेश वही है जो 100 से 200 साल पहले थी बल्कि पर्यावरणीय दुष्प्रभाव के चलते यह समस्याएं और ज्यादा संकटग्रस्त हुई हैं उसके बाद भी तमाम विमर्शों के आने के बाद भी किसान विमर्श आज भी हाशिए पर है

यदि किसान विमर्श हंसिए पर रहा तो वह वक्त दूर नहीं जब एक दिन देश की सारी कृषि जमीन धीरे–धीरे पूंजीपतियों के हाथों में होंगी और इस देश का किसान निराश होकर खेती किसानी छोड़ चुके होंगे। वैसे भी वह है क्रम जारी है क्योंकि कोई भी किसान अपने बेटे को खेती किसानी करने की सलाह नहीं देता सिर्फ इसलिए नहीं कि यह लाभ का व्यापार नहीं रहा बल्कि इसलिए कि अब किसान कि वह मरजाद नहीं रही समाज में, उसका वह सम्मान नहीं रहा जो पहले हुआ करता था। क्योंकि खेती किसानी एक जीवन संस्कृति थी और वह संस्कृति संकटग्रस्त हो गई। खेती कभी बंद नहीं होगी क्योंकि किसान नहीं करेंगे तो बड़े उद्योगपति खेती करवाएंगे किंतु वह कृषक संस्कृति को बचा नहीं सकते। यह संस्कृति नष्ट हो जाएगी। इसलिए मैं रॉबर्ट रेडफील्ड से सहमत होता हूं जब वह कहते हैं कि, "कृषक समाज के लिए कृषि एक लाभ का व्यवसाय ना होकर एक जीविका और जीवन मार्ग है।"[7]

इस जीवन मार्ग को समुन्नत बनाने के लिए इस विमर्श को पुरजोर ढंग से आगे बढ़ाने की जरूरत है। यही वक्त की मांग है। यही विकसित होते किसी भी देश की आवश्यकता है। कृषि और उसकी संस्कृति को बचाने के लिए उसके समाज को आगे आना होगा और यह तभी संभव है जब इस मुद्दे पर लंबी, गहन और गम्भीर विमर्श होंगे।

संदर्भ सूची

1. प्रेमचंद, कर्मभूमि, पृ– 127
2. केशव तिवारी, तो काहे का मैं, पृ–27
3. महाभारत, उद्योगपर्व, 36/31
4. तुलसीदास, रामाज्ञा प्रश्न, 7/2/7
5. रैदास रचनावली, पृ– 138
6. सूरदास, सूरसागर, (भाग–1), पद संख्या–185
7. रॉबर्ट रेडफील्ड, पीजेंट सोसाइटी एन्ड कल्चर, पृ–106